स्कूल की जीवन्त दुनिया में परस्पर संबंधों का एक ताना-बाना बनता है। यह संबंध एक तरह के सत्ता संबंध भी निर्मित करते हैं। स्कूल एवं शिक्षकों की पेशेवर क्षमताओं के समुचित विकास और शिक्षण कार्यों में इनका किस तरह इस्तेमाल किया जाए, यह किसी भी संवेदनशील प्रबंधक के लिए कम बड़ी चुनौती नहीं होता। यह लेख लोकतांत्रिक तरीकों में यकीन करने वाली प्रबंधक के तजुर्बों को आलोचनात्मक रूप में पाठकों के सामने रखता है।

एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने-III

सत्ता के रूप-रंग

फ़राह फ़ारूक़ी

शायद आप सब डायरी के पाठक सोचते होंगे कि डायरी के इन पन्नों में बच्चे कहां हैं। आख़िर बच्चे किसी भी स्कूल के केन्द्र बिन्दु होते हैं और मैं अपने स्कूल के बच्चों के बारे में अकसर सोचती हूं। यह डायरी बच्चों का ज़िक्र तो करेगी ही लेकिन स्कूल और शिक्षा से जुड़े लेख़ों और पत्रिकाओं में हमें उन ढांचों और माहौल का विवरण और विश्लेषण कम मिलते हैं जो बच्चों की शिक्षा पर गहरा असर डालता है। इसलिए डायरी की मौजूदा क़िस्त में स्कूल से जुड़े लोगों के बीच के औपचारिक और अनौपचारिक रिश्तों को देखने की कोशिश की गई है। यह ज़िक्र भी है कि स्कूल में किस तरह आपसी ताल्लुक़ातों में बंटे हुए समाज का एक अक्स देखने को मिलता है। इन रिश्तों में किस तरह सत्ता के कई रूप शामिल हैं जिनमें से कुछ रोज़मर्रा के सांस्कृतिक दस्तूरों और ढांचों में छुपे-बसे रहते हैं। यह समझने का प्रयास किया गया है कि किस तरह ग़ैरबराबरी के रिश्ते स्कूल के माहौल को प्रभावित करते हैं और इनका असर स्कूल में ज़िम्मेदारियों के बंटवारे पर पड़ता है। इन पन्नों में मैं इस सवाल से भी जूझ रही हूं कि मेरे तौर-तरीकों को लोकतांत्रिक कहा जा सकता है या नहीं। मुझे लगता है स्कूल में ग़ैरबराबरी के ढांचे कुछ हिले-डुले हैं और इससे लोगों के बीच के फ़ासले भी कम हुए हैं। लेकिन क्या यह बदलाव स्थाई है या फिर बस पानी का बुलबुला है?

आपसी ताल्लुक़ात में समाज का अक्स

हमारे स्कूल में कई तरह का जातिवाद देखने को मिलता है। इनमें नुमाया हैं, एक, पी.जी.टी., टी.जी.टी. और असिस्टेंट टीचर में फ़र्क, दूसरा, सीनियर-जूनियर या ''तजुरबे'' की बिना पर बनाई गई श्रेणियां। यह फ़र्क, तन्ख़ा के फ़र्क और अलग-अलग तालीमी मांग

परिचय

दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी श्रीराम कॉलेज में बीएलएड कोर्स से जुड़ी रहीं हैं। आजकल जामिया मिलिया इस्मालिया के शिक्षा विभाग में एसोशियट प्रोफेसर हैं और दिल्ली एजुकेशन सोसाइटी से संबद्ध हैं।

के ज़रिए औपचारिक तरीक़े से तो तंत्र में शामिल हो ही गया है। लेकिन, यह फ़र्क स्कूल से जुड़ी ज़िम्मेदारियां लेने-देने में, बैठकों में मुद्दे उठाने और अहमियत मिलने में भी साफ़ नज़र आता है। यह टीचर्स के आपसी ताल्लुक़ात में कुछ इस तरह नज़र आता है कि जैसे स्वाभाविक हो। यह ग़ैरबराबरियां और फ़र्क, आपसी दोस्ती और माहौल को तो प्रभावित करते ही हैं लेकिन इनका सीधा ताल्लुक़ मिलजुलकर ज़िम्मेदारियां निभाने, साथ ही स्कूल और शिक्षा के बारे में मिलाजुला एक तसव्वुर या ख़्वाब देखने और मिलजुलकर साकार करने से है। इन फ़र्क के अलावा समाज को बांटने-काटने वाली कई और तरह की ग़ैरबराबरी और उससे जुड़ी सोच शामिल है। जैसेः जेण्डर, जाति, आर्थिक, इलाक़ाई ज़बान और मज़हब की बिना पर फ़र्क। यह रोज़ की बातचीत में, विभिन्न समूहों की बनावट में साफ़ झलकता है। जैसा कि, हमारे एक तजुरबेकार टीचर ने एक साथी के बारे में बताया, ''वैसे तो वह ठीक-ठाक ही है, लेकिन कभी-कभार बिहारीपना दिखा ही जाते हैं। बोलते ठीक हैं, लेकिन अगर आप ग़ौर करेंगी तो ज़बान से साफ़ पता चल जाएगा'' या फिर, ''अरे! इनका ख़ानदान तो 'मशहूर' है, यह सब बस ऐसी ही है''। ''सीनियर'' और जूनियर टीचर्स का ज़्यादातर आपस में छत्तीस का आंकड़ा ही रहता है। एक सीनियर टीचर के हिसाब से ''यह जो नए लोग आए हैं, इनकी वजह से माहौल बहुत ख़राब हुआ है, कोई कुछ काम ही नहीं करना चाहता'', जवाब में जूनियर टीचर ने तंज़ भरी ज़बान में कहा, ''भई हमने तो जैसा पाया, देखा, वैसा किया। सीखा तो अपने सीनियर्स से ही है!'' इस मीटिंग के दौरान की गुफ़्तगू से आप इनके आपसी तनाव भरे रिश्तों का अन्दाज़ा तो लगा ही सकते हैं।

आपसी ताल्लुक़ात किस तरह के हैं, इसका असर पेशेवर ताल्लुक़ात कैसे बन पाते हैं, इस पर भी पड़ता है। आपसी रिश्तों का एक अच्छा अंदाज़ा हमारे यहां के टी क्लब से हो पाता है। सुबह की शिफ़्ट में, आधी छुट्टी के वक़्त, सभी टीचर्स चार-पांच समूहों में बंट जाते हैं। इनमें से दो समूहों के साथ मुझे कई बार चाय पीने का मौक़ा मिला। इनका और बाक़ी टी-क्लब्स का भी तज़करा यहां पेश है।

चाय-वाय और राय

तक़रीबन तेरह-चौदह महिला टीचर्स स्टाफ़ रूम में एक साथ चाय पीती हैं। सभी अपना-अपना खाने का डिब्बा तो लाती हैं, लेकिन यह तय है कि बारी-बारी एक टीचर सभी के लिए कोई ख़ास पकवान लेकर आएंगी। एक दिन जब मुझे साथ में चाय पीने का न्यौता मिला, तब ख़ास डिश हलीम थी। मज़े लेकर हलीम और बाक़ी चीज़े खाई गईं। पकाने के नुस्ख़े भी अदले-बदले गए। एक अच्छी दावत और हंसी-मज़ाक का माहौल था। एक टीचर ने कहा भी, ''मैम, हमारे यहां यही सब घरेलू क़िस्म की बातें होती हैं, पॉलिटिक्स नहीं''। आख़िर कोई पूछे कि क्या परिवार या फिर टी-क्लब्स पॉलिटिक्स से परे हैं?

कई बार की बातचीत से अंदाज़ा हुआ कि महिलाओं के इस टी-क्लब में कई तरह की ग़ैरबराबरी कुछ कम, बल्कि ख़त्म-सी हो जाती है, जैसे पी.जी.टी. और टी.जी.टी. का फ़र्क। शायद इसकी वजह यह भी है कि इन औरतों की ज़िन्दगी और पहचान का एक अहम हिस्सा घर और घरेलू चीज़ों से वाबस्ता है। क्योंकि इस टी-क्लब से जुड़ी महिलाओं का आर्थिक, सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य कुछ मिलता-जुलता सा है, जिसकी वजह से घरेलू सफ़र, इनका घर में रुत्बा और परिस्थितियां भी मानूस-सी हैं। ये एक-दूसरे के हालात को समझती हैं, आपस में बातचीत कर सकती हैं, राय दे ले सकती हैं। इस तरह चाय-वाय के साथ घरेलू ज़िन्दगी को बेहतर बनाने के राय-मशवरे भी दिए और लिए जाते हैं। जैसे ''सास की ख़िदमद अपनी जगह है लेकिन उनकी ग़लत बात क्यों मानी जाए? घर-बाहर इतना काम करके। ए.सी. की ज़रूरत है तो क्यों न ख़रीदा जाए''? सभी ख़वातीन अपने परिवार की पहली पीढ़ी हैं, जिन्होंने काम की दुनिया में क़दम रखा है और इन्हें इस सहारे की ज़रूरत है। घर की दुनिया और घरेलू काम को अपना फ़र्ज़ समझती हुई जब घर के बाहर आती हैं तो घर और बाहर के लोगों से मोल-भाव, तकरार, इक़रार सभी होता है और अपने-अपने इस सफ़र

की बातचीत इन्हें डटे रहने की हिम्मत देती है। शायद कभी, इन-सर्विस प्रोग्रामों के ज़रिए, इन्हें इल्मी या शैक्षिक चश्मे हासिल हो पाएं, कि ये अपने सफ़र को बेहतर तरह से समझ-बूझ सकें।

वक़्त पड़ने पर यह एकजुट भी हो जाती हैं, इसे चाहे यह अपनी ज़बान में पॉलिटिक्स न कहें, न ही समझें। जैसे स्कूल के एक पुरुष टीचर ने एक महिला टीचर के लिए कुछ ग़लत अल्फ़ाज़ इस्तेमाल किए। इस बात का पता चलने पर सभी ने एकजुट होकर उन तक यह बात पहुंचा दी कि आइन्दा इस तरह का रवैया बरदाश्त नहीं किया जाएगा और रिपोर्ट दर्ज करवा दी जाएगी। इस तरह ना-इंसाफ़ी और ग़ैरबराबरी के खिलाफ़ आवाज़ उठाने की हिम्मत मिली। यहां यह कहना ज़रूरी है कि एक समूह के रूप में एकजुट होना इनकी जेन्डर की पहचान का हिस्सा ज़रूर है, व्यावसायिक पहचान या ''शान'' का नहीं। बल्कि, शिक्षा तंत्र की एक ''कमज़ोर'' कड़ी होने का एहसास इन्हें एक पेशेवर की पहचान चाहे न देती हो लेकिन आपसी ग़ैरबराबरी का एहसास ज़रूर कम करता है। ज़्यादातर महिलाओं का कक्षा में पढ़ाने के अलावा स्कूली इन्तेज़ाम में बहुत सक्रिय रोल नहीं है, या बल्कि यूं कहिए, ये काम उन्होंने अपने ज़िम्मे लिया नहीं और किसी ने उन्हें इसका मौक़ा दिया भी नहीं। प्रिंसिपल साहब और ''सीनियर'' पुरुष टीचर्स ज़्यादातर ख़वातीन को इन्तेज़ाम के काम में नाअहल और कमतर समझते हैं। लेकिन ये महिलाएं इस नज़रिए से ख़ास नाख़ुश भी नहीं हैं। यह नज़रिया एक मायने में इनकी मदद जो करता है, अपने घरेलू फ़र्ज़, जिन्हें यह तजरीह देती हैं, ज़्यादा बेहतर तरीक़े से निभाने में।

चाय, हंसी और ठट्ठों के बीच में संजीदा बातें कहना भी कई बार आसान हो जाता है। जैसे कि मुझे याद दिलाया गया ''मैडम स्कूल में हैड क्लर्क और यू.डी.सी. न होने की वजह से काम वक़्त पर नहीं हो पाते, जल्दी कुछ कीजिए''।

चुस्की में सुस्ती

दूसरा टी-क्लब 10-12 पुरुष टीचर्स का है। टीचर्स के अलावा, इसका हिस्सा एक लैब असिस्टेंट और प्रिंसिपल भी हैं। यहां भी चटख़ारों के अच्छे सिलसिले रहते हैं। महीने के पैसे इकट्ठे करके ज़्यादातर बाहर से चीज़ें मंगवाई और खाई जाती हैं। पुरानी दिल्ली में पकवानों की तो कोई कमी है नहीं। लेकिन, कई बार लगातार बारी-बारी मर्द अपनी बीवियों से भी पकवान बनवाकर लाते हैं। दाद कुछ इस तरह दी जाती है, ''अरे भई साहब का घर पर 'कन्ट्रोल' है'' या फिर मज़ाक होता है, ''बनवाकर ले तो आए हैं, अब कई दिन तक घर में बर्तन मांझने पड़ेंगे'' या फिर पकाने वाले हाथों को श्रेय दिए बग़ैर कुछ इस तरह कहा जाता है, ''पिछले हफ़्ते प्रिंसिपल साहब बहुत लज़ीज़ क़ोरमा बनवाकर लाए थे।''

साथ में क़ोरमा-बिरयानी खाने के बावजूद इन लोगों में एक आपसी खिंचाव साफ़ ज़ाहिर होता है। व्यावसायिक ग़ैरबराबरी आपसी ताल्लुक़ात में भी झलक जाती है। क्योंकि स्टाफ़ रूम छोटा है, यह टी-क्लब फ़िज़िक्स लैब में चलता है। प्रिंसिपल साहब को बैठने के लिए ज़्यादा आरामदे कुर्सी दे दी जाती है, बाक़ी लोग स्टूल पर बैठते हैं। कई बार नहारी-रोटी उनकी प्लेट में भी परोस दी जाती है। बातें, ज़्यादातर, सरकारी शिक्षा मकहमे के इन्तज़ामिया और फ़ाइलों के सफ़र के बारे में ही होती हैं। कम ही होता है कि आपस में हल्का-फुल्का मज़ाक और बातें हों। मज़ाक़ भी तंज़-भरा होता है। जबकि इस समूह की अपनी न तो पेशेवरी न कोई और ख़ास नुमाया पहचान है लेकिन जब कोई ''ग़ैर'' इनके फ़ायदे में रोड़ा अटकाता है, तब सामना करने के लिए एकजुट हो जाते हैं। जैसे की मैनेजिन्ग कमेटी ने स्टाफ़ की जुमे के रोज़ जल्दी छुट्टी की तजवीज़ को ख़ारिज कर दिया था। इस वजह से मैं निशाने पर थी - ''जामिया में तो जल्दी छुट्टी होती है, यहां क्यों नहीं?'', ''जब पहले होती थी, अब क्यों नहीं?''

बाक़ी क्लब

इन दो क्लब के अलावा, चार टीचर्स साथ में चाय पीते हैं। इनमें स्कूल के दो सीनियर टीचर्स शामिल हैं जो अगले कुछ साल में प्रिंसिपल और वाइस-प्रिंसिपल बनने के दावेदार होंगे। एक महिला टीचर भी इस समूह में शामिल हैं। स्कूल के सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य से देखने पर यह कुछ अटपटा-सा लगता है। लेकिन इनकी एक अपनी हैसियत है। पिछले दो साल से यह टीचर्स यूनियन की नुमाइन्दगी करते हैं। इस समूह को एक ताक़तवर समूह के तौर पर देखा जाता है। स्कूल से जुड़े कानून की किताब या नियमावली इन्हें हिफ़्ज़ है। अगर कोई टीचर अपने-आपको इन्तज़मिया के ज़ुल्म का शिकार समझता है तो वह इनकी मदद लेने पहुंच जाता है। यह इनका रुत्बा और बढ़ा-चढ़ा देता है। इस समूह की महिला टीचर इन अलग-अलग टी-क्लब्स के बीच में सूचना और अफ़वाह के आदान-प्रदान का अहम रोल अदा करती हैं। यहां यह कहना ज़रूरी है कि इस ग्रुप से मुझे चाय का निमंत्रण कभी नहीं मिला जो एक तरह से इस समूह की ''शान-बान'' और बढ़ा देता है और अपने-आपमें एक कथन है।

इसके अलावा स्कूल में नए आए चार टीचर्स का एक अलग-थलग सा समूह है जो दूर रहकर स्कूली रिश्तों, सत्ता के दायरों को भांप रहा है।

हां, यह भी कहना ज़रूरी है कि यह क्लब बहुत स्थायी भी नहीं हैं। इनमें आपस में लोगों का तबादला चलता रहता है और नए क्लब या समूह उभरते रहते हैं। पुराने आपस में जुड़कर कभी एक हो जाते हैं, कभी जुदा ही रहते हैं। यह इंसानी रिश्तों में दोस्ती, इख़्तलाफ़, जुदा होने और मिल-बैठने की वजह और हालात का अच्छा और ख़ूबसूरत मुज़ाहिरा करते हुए नज़र आते हैं।

ज़ाहिर और गुप्त सत्ता, एक सेर तो दूसरी सवा सेर!

इन टी-क्लब के साथ मेरे तजुरबे से मुझे यह अन्दाज़ा हुआ कि इन अनौपचारिक रिश्तों में कहीं सांस्कृतिक सत्ता ढकी-छुपी है। जिसमें अहम है विचारधारा, रवय्ये और यक़ीन की ताक़त। जैसे महिलाओं के क्लब की जो हावी पहचान है और इन्हें एकजुट करती है वह इनके महिला होने से जुड़ी है लेकिन यह सवाल पूछना ज़रूरी है कि क्या यह एहसास इन्हें इनकी सामाजिक-पारिवारिक अवस्था को समझने और बदलने में मदद करता है? मुझे लगता है कि यह सामूहिक पहचान भी सांस्कृतिक प्रथा और दस्तूर को स्थापित ही करती है। अगर इन महिलाओं को यह विरोध-प्रतिरोध की हिम्मत भी देती है तो दायरों के भीतर ही। यह कहना ग़लत नहीं होगा कि यह हावी पहचान इनके पेशेवर के रूप में उभरने-पनपने के आड़े ही आती है। अगर कभी स्कूल के बाद रुककर मीटिंग करने की बात करो तो कई टीचर्स एक साथ आकर अपनी मजबूरी बयान करती हैं: ''मैम, बच्चों के वापस आने का वक़्त है, खाना बनाना, देना होता है'', या फिर ''हज़बैण्ड ने दोस्तों की दावत की है, तैयारी करनी है''। इस बात को कहने का उनका स्वाभाविक अन्दाज़ ही मुझे लाजवाब कर देता है। यह बात वक़्त, जगह और इदारे में जो मेरा रुत्बा वह समझती हैं उसका कोई ''लिहाज़'' किए बग़ैर और उसका राजनीतिक पक्ष देखे-समझे बग़ैर जिस सरलता से कही जाती है उससे अन्दाज़ा होता है कि उसे कितना स्वाभाविक मान लिया गया है। औपचारिक संगठन के हिसाब से मेरी हैसियत और रुत्बा चाहे जितना ''ऊंचा'' ज़ाहिर होता हो लेकिन इस ताक़त और यक़ीन के आगे घुटने टेक देता है। अगर मैं इन्हें जबरदस्ती रोकती भी हूं तो वह इन्हें ''ज़ुल्म'' ही नज़र आएगा और प्रतिरोध के लिए उकसा सकता है। यहां यह कहना ज़रूरी है कि इन सांस्कृतिक ढांचों की ताक़त इन टीचर्स के अस्तित्व की उड़ान को भी अपने शिकंजे में कसकर बेबस कर देती है।

इसी तरह पुरुष टीचर्स के क्लब में अनौपचारिक रिश्ते भी ग़ैरबराबरी का शिकार हैं। यह सामाजिक

ग़ैरबराबरी की तरफ़ इनका रुझान दर्शाता है। विचार, रवय्या और यक़ीन, सांस्कृतिक सत्ता को अदृश्य सही लेकिन गहरी जड़ें दे देता है जिसे हिला-डुला पाना बस के बाहर-सा लगता है। यह क्लब हो या फिर चार सीनियर टीचर्स का, मैं मानती हूं कि इनके पास ख़ुद-मुख़तारी या क्रियाशक्ति की कोई कमी नहीं है। लेकिन सीढ़ीनुमा शिक्षा तंत्र जिसमें पारदर्शिता की कमी है उसके बोझ तले दबकर अपने-आपको ग़ैरमहफ़ूज़ मानकर यह प्रतिरोध पर उतारू हो जाते हैं। अफ़सोस, यह प्रतिरोध क्योंकि सैद्धांतिक, समझ और परिकल्पना पर आधारित नहीं होता है, इसलिए चेतना नहीं जगाता। इनको अपने और तंत्र के हालात को बदलने में कोई मदद भी नहीं करता है।

इन टी-क्लब ने जहां मुझे इस छुपी सत्ता का आभास करवाया वहीं यह भी समझ में आया कि यह रिश्तों का जाल सूचना और अफ़वाह के प्रवाह का बेजोड़ माध्यम है। आपस में सूचना और अफ़वाह बांटने के ज़रिए सत्ता को स्थापित करना भी आसान हो जाता है।

आप समझ ही गए होंगे कि यह बेज़रर और तटस्थ दिखने वाले टी-क्लब ''मैनेजर साहिबा'' की पहुंच और ऊंचाई से कहीं ऊंचे हैं।

रिश्तों का सफ़र और ढांचों में बदलाव

शक, शुबह, ख़तरे, अपने को गैरमहफ़ूज़ समझना, संवाद की कमी और ग़ैरबराबरी के माहौल में लोगों से रिश्ते बनाना और ढांचों को समझना और हिला-डुला पाना किसी जंग से कम नहीं है। यह इसलिए भी मुश्किल है क्योंकि लोगों को, उनके और स्कूल के हालात को समझने में वक़्त लगता है और साथ ही साथ छोटे-बड़े फ़ैसले भी लेने होते हैं। कोई साफ़ सूरत और उसका तय-शुदा हल तो सामने होता नहीं है। लेकिन अब मुड़कर जब अपने सफ़र को क़रीब से देखती हूं तब लगता है कि कुछ तो रिश्ते बने हैं, ढांचे भी बदले हैं और यह देखकर एक उम्मीद-सी जागती है कि शायद कभी हालात और बेहतर हो पाएं। हां, रफ़्तार बहुत-सी वजहों से कछुए की सी है जिसकी एक वजह संसाधनों की शदीद कमी भी है। इनक़लाब की तमन्ना लिए हक़ीकत से जूझना और समझौते करना काफ़ी तकलीफ़दे होता है।

आज यह तो मैं ऐतमाद के साथ कह सकती हूं कि रहनुमा, जैसे कि स्कूल मैनेजर और प्रिंसिपल, किसी भी इदारे को एक लोकतांत्रिक संगठन बनाने में, जहां सबकी भागीदारी हो, एक अहम भूमिका निभा सकते हैं। कुछ क़दम तो मैंने बहुत सोच-समझकर उठाए जैसे संवाद या बातचीत के औपचारिक और अनौपचारिक रास्ते हमेशा सभी के लिए, काफ़ी हद तक बराबरी से खुले रखे। इसका मतलब यह नहीं है कि मैंने सभी के साथ बराबर वक़्त गुज़ारा लेकिन अपनी-सी कोशिश ज़रूर की हर एक की बात को अहमियत दूं और उन्हें यह एहसास भी दिलाऊं कि वे और उनका काम अहम है। चाहे वह हमारे चौकीदार साहब हों या फिर प्रिंसिपल साहब।

हां, यह भी किया और एहसास भी दिलाया कि बात और काम का सही-ग़लत होना इस बात से तय नहीं होता कि करने वाला कौन है। जो बात सही है वह सही है और जो ग़लत है वह ग़लत है। साथ ही यह जताने की कोशिश भी की कि उनमें से कोई भी मेरे क़रीब या दूर नहीं है, सभी से बराबर का रिश्ता है। कभी किसी से किसी और के बारे में जासूसी या पूछताछ करने की कोशिश नहीं की। कई बार दिल तो चाहा कि कुछ पता-वता किया जाए, लेकिन ऐसा किया नहीं। डर था कि रिश्तों के पेचीदा जाल में कोई ख़बर अफ़वाह का रूप न ले ले। साथ ही पता चलने पर लोगों का मुझ पर और आपस में भरोसा न टूट जाए जिसकी वजह से आपसी रिश्ते शक और शुबह के दायरों में उलझ जाएं। आज स्कूल के ज़्यादातर लोग मुझसे बेझिझक बात करने में घबराते नहीं हैं।

बदलते ढांचे

शुरू में ही यह एहसास हो गया कि स्कूल के काम में, फ़ैसलों में भागीदारी चंद ''सीनियर'' पुरुष टीचर्स की ही है। इस बात पर मेरी और इन्तज़ामिया की तरफ़ से ज़ोर दिया गया कि सभी टीचर्स अपनी मर्ज़ी, और रुचि के हिसाब से जिम्मेदारियां सम्भालें और अलग-अलग कमेटियों में शामिल हों। कुछ ही ख़ुशी और उत्साह से शामिल हुए, बाक़ी बस जुड़ गए।

सी.सी.ई. (CCE- continuous and comprehensive evaluation) को जिस तरह समझा गया है, उसके तहत इम्तेहान और रिकॉर्ड रखने की एक बड़ी ज़िम्मेदारी उभर कर आई। यह ज़िम्मेदारी हमारे यहां की एक ''जूनियर'' टी.जी.टी. महिला टीचर को सौंपी गई और उन्होंने सम्भाली। इस तरह की आज़ादी जिसके साथ सहारा और सराहना दोनों मौजूद हों, शायद पहली बार महसूस की गई। शुरू में इस बदलाव पर जहां सीनियर टीचर्स की बजाय एक जूनियर टीचर को इतनी बड़ी ज़िम्मेदारी सौंपी गई, कुछ लोगों ने दबा दबा-सा ऐतराज़ ज़रूर किया लेकिन इन टीचर ने अपने काम को इस हुनर और ज़िम्मेदारी से निभाया कि सब शिकायतें दूर हो गईं। हां, कुछ दर्द ज़रूर बढ़ गए। अपनी नई हासिल हुई सत्ता का इस्तेमाल भी यह महिला टीचर ख़ूब करती हैं। बच्चों के नतीजे और नम्बरों को वक़्त पर देने का तक़ाजा करने में यह सीनियर टीचर्स को भी नहीं बख़्शतीं। इन्हीं के ही अल्फ़ाज़ में बहुत से ''सीनियर'' मर्द उस्तादों को यह ''ज़ोरावर इंचार्ज महिला'' एक आंख नहीं भाती, लेकिन इनकी क़ाबिलियत पर उंगली भी नहीं उठा पाते।

इसी तरह पता चला कि पिछले काफ़ी सालों से दो पी.जी.टी. पुरुष टीचर टाइम-टेबल बनाते चले आ रहे थे। इन्होंने बाक़ी लोगों पर यह जता भी रखा था कि टाइम-टेबल बनाना इतना मुश्किल और हुनर का काम है कि हर एक के बस की बात नहीं है। टीचर्स को यह शिकायत थी कि यह लोग सबके साथ इन्साफ़ नहीं करते हैं। ख़ुद के लिए और ''अपने ग्रुप'' के लोगों के लिए काम का भार कम रखने की तरकीबें निकालते हैं और बाक़ी लोगों को या जिनसे इनकी बनती नहीं है, ज़्यादा काम सौंप देते हैं। सरकारी महकमा क्योंकि यह तय करता है कि कितने घंटे टी.जी.टी., पी.जी.टी. पढ़ाएंगे, तो ज़्यादा और कम काम की बारीकी को भी समझना पड़ा। पता यह चला कि जी.के. (General Knowledge) या एस.यू.पी.डब्ल्यू. (SUPW- Socially useful productive work) जैसे विषयों में हमारे स्कूल में कुछ ख़ास नहीं होता है तो वह अपने पास रख लिए या फिर अनुशासन कमेटी में काम करने पर अपने नाम पर कुछ घंटे यूंही चढ़ा लिए। जब शिकायत मेरे पास लाई गई तो मैंने सुझाव दिया कि ज़्यादा लोग मिलकर टाइम-टेबल बनाएं। तीन और लोग जिसमें दो टी.जी.टी महिलाएं थीं, इस समूह में शामिल हुए। लेकिन समूह में आपसी खिंचाव की वजह से प्रिंसिपल साहब ने फ़ैसला किया कि दोनों समूह (पुराने और नए) अलग-अलग टाइम-टेबल बनाएंगे। जो बेहतर होगा, वह लागू किया जाएगा। इन तीनों लोगों ने, न सिर्फ़ हाथ पैर मारकर टाइम-टेबल बनाना सीखा, बल्कि बेहतरीन बनाया भी। दूसरे ''सीनियर'' समूह को यह डर था कि अगर उनका बनाया टाइम-टेबल न लागू किया गया तो उनकी ''तौहीन'' हो जाएगी। इस बारे में उन्होंने प्रिंसिपल साहब से कहा भी : ''भई, अगर हमारा वाला लागू नहीं किया गया तो हमारी बेइज्ज़ती हो जाएगी''। दोनों टाइम-टेबल ही लोकतांत्रिक बने। मैंने तीन नए लोगों से इस उलझे हुए मुद्दे पर, हल्के-फुल्के अंदाज़ में बात की कि क्या किया जाए। उन्होंने भी अपनी दरिया दिली दिखाते हुए कहा - ''भई, अपने सीनियर्स की इज़्जत हमें भी प्यारी है, बस बता दिया कि हम भी काम कर सकते हैं, उनके वाले टाइम-टेबल से हमें कोई शिकायत नहीं है, वह ही लागू होने दें''।

इस तरह धीरे-धीरे ज़्यादा लोग काम में शामिल हुए हैं। अगर इसमें मैं अपना रोल देखना चाहूं तो मुझे लगता है कि अहम है। काम की प्रक्रियाओं और बारीकियों को समझना, साथ ही रिश्तों की पेचीदगी और तनाव को समझते हुए लोगों को मौक़े देना। संवाद के ज़रिए सहारा भी देना। मीटिंग्स में लगातार यह बातचीत भी

की कि शिक्षा तंत्र की ग़ैरबराबरी जैसे टी.जी.टी., पी.जी.टी. का फ़र्क़, स्कूली रिश्तों में शामिल क्यों हो? इस बातचीत को धीरे-धीरे बग़ैर प्रतिरोध और कड़वाहटों के हक़ीक़त में बदलने का कुछ तो श्रेय शायद मैं अपने-आपको दे ही सकती हूं।

स्कूली रिश्ते कैसे बदले हैं, अगर बदले हैं, इसके दो और नमूने पेश करना चाहूंगी। दो महिला टीचर्स ने, अलग-अलग, मुझसे एक ही बात कही और मैं उसमें वज़न देख पाती हूं। उन्होंने कहा, ''कई बार तंज़ और ताने तो लेडी टीचर्स को सुनने के लिए मिलते थे, लेकिन पहली बार हिम्मत हुई कि उनका जवाब दे पाएं''। उनका इशारा टी-क्लब वाले वाक़िए की तरफ़ था कि किस तरह एक पुरुष टीचर के एक महिला टीचर के लिए ग़लत अलफ़ाज इस्तेमाल करने पर सभी ने एकजुट होकर उसका मुक़ाबला किया। उनके हिसाब से यह क़दम उठाने की हिम्मत उन्हें बदले माहौल और मेरी तरफ़ से सहारे के यक़ीन ने दी। उन्हें इत्मिनान था कि उनकी बात सुनी और समझी जाएगी और हालात को सुलझाने के लिए क़दम उठाए जाएंगे।

इसी तरह स्कूल में वालदैन (माता-पिता) का दख़ल और आवागमन बढ़ा है। इसका तफ़सीली ज़िक्र किसी और क़िस्त में करूंगी, बस यहां यह ही कहना चाहूंगी कि हमारे स्कूल की वालदैन टीचर कमेटी मज़बूत हुई है। वालदैन, स्कूल आकर अपनी बात हक़ से कह पाते हैं। टीचर्स और हम सभी अब बच्चों की नाकामयाबी का सारा इल्ज़ाम वालदैन को देकर ''बाइज़्ज़त बरी'' नहीं हो पाते हैं।

इस तरह कई तरह के कुछ तो नुमाया और कुछ ढके-छुपे ढांचे जैसे वालदैन और स्कूल के बीच का फ़र्क़, जेण्डर, सीनियर-जूनियर, पी.जी.टी.-टी.जी.टी. के बीच का फ़र्क़ और रिश्ते कुछ हिले-डुले तो हैं। मीटिंग्स होना, बातचीत होना जो नापैद था अब आम हो गया है। इन मीटिंग्स में अब अपनी बात कहने, सुनने वालों की तादाद बढ़ गई है। लोग मुद्दों पर सहमत-असहमत होते हैं और मिले-जुले फ़ैसले भी लेते हैं। यह तीन साल के सफ़र के बाद कुछ देखने को मिला है।

लेकिन अहम सवाल यह है कि क्या यह बदलाव क़ायम रहेगा? क्या यह लोगों के ख़यालात, रवय्यै और यक़ीन में फ़र्क़ ला पाया है? अगर नहीं, तो क्या यह इदारे के दस्तूर का हिस्सा बन पाया है। क्या यह दूसरे किसी इन्तज़ामिया के आने पर भी क़ायम रह पाएगा? या फिर यह सिर्फ़ एक सतही बदलाव है जो लोगों के आने-जाने पर निर्भर है। मैं यह कहना चाहूंगी कि यह डायरी, इस सफ़र को क़ायम रखने और आगे बढ़ाने का मेरा एक छोटा-सा प्रयास है।

मेरी भूमिका क्या लोकतांत्रिक है?

अगर मैं यह कहूं कि मेरे स्कूल से जुड़े फ़ैसलों में सभी की भागीदारी रही है तो यह कथन मेरे ख़ुद के लिए बहुत से सवाल खड़े कर देता है जिसका जाएज़ा लेना ज़रूरी है। इसका जाएज़ा अगर सतही तौर पर लिया जाए जैसे, मीटिंग में कौन ज़्यादा अपनी बात कह पा रहा है, कौन सुनने पर मजबूर है और फ़ैसलों से जुड़े हुक्म के इन्तज़ार में है, तो यह सबूत मेरे लोकतांत्रिक होने की गवाही नहीं देते हैं। अपनी बात रखने का मौक़ा और वक़्त मुझे ही औरों के मुक़ाबले में ज़्यादा मिला है। नज़रिया सामने रखने की हिम्मत भी ओहदे ने और कहीं छुपे सामाजिक रुत्बे के एहसास ने दे ही दी है। मुझे यह भी एहसास है कि इदारे के डिस्कोर्स या आख्यान तय करने या बनाने में सत्ता का बल्कि मेरे ''प्रमुख'' होने या समझे जाने का हाथ है। जहां यह सच है वहीं मैं यह सवाल उठाना चाहती हूं कि क्या जमहूरियत का ताल्लुक़ सभी को और उनके नज़रियों को स्थान देने से ही है? मुझे लगता है कि यह तय करने के लिए हमें समाज के अलग-अलग समूहों के, ख़ासतौर से कमज़ोर वर्गों के फ़ायदे और नुक़सान के संदर्भ मे देखना होगा। यह मानते हुए कि आख्यान के तय करने में मेरा अहम रोल है। मैं यह आग्रह करूंगी कि यह देखा जाना ज़रूरी है कि क्या आख्यान भेद-भाव, ग़ैरबराबरी और ज़ुल्म के ख़िलाफ़ है या उसे बढ़ावा दे रहा है। जैसे स्कूल में, शिक्षा तंत्र और समाज को

बाइज़्ज़त बरी करके, बच्चों के तालीमी मयार की कमी का ज़िम्मेदार ख़ुद उन्हें और उनके परिवारों को ठहराए जाने का सिलसला अब बदला है। मैं किस तरह सबूत और संवाद के ज़रिए यह कर पाई, इसका ज़िक्र अगले किसी अंक में करूंगी। इसी तरह सरकारी महकमे से ख़ौफ़ का और उनका 'एहसान' मानने का रवैय्या भी कुछ बदला है। जबकि मैं इसे मूल ख़यालात या समाज को देखने के नज़रिए में बदलाव नहीं मानती लेकिन फिर भी यह समझती हूं कि यह हवा का बदला रुख़ लोगों के काम के रुझान में फ़र्क ज़रूर डालेगा।

आज मैं यह बहस करने के लिए तैयार हूं कि इदारों मे लोकतंत्र की स्थापना मुश्किल ज़रूर है नामुमकिन नहीं। यह कहना फिर से सवाल खड़े कर देता है कि सत्ता और रुत्बे का इस्तेमाल किस तरह और किसके लिए किया जा रहा है। जैसे, हमारे स्कूल में पिछले दो साल से वार्षिक दिवस मनाया जा रहा है। दूसरे साल में जब जलसा मनाने की बात उठी तो चंद आवाज़ें जो सुनाई पड़ीं वह जलसा आयोजित करने के खिलाफ़ थीं। ज़्यादातर लोग चुप्पी साधे थे, उन्हें प्रोग्राम के होने न होने से कोई फ़र्क ही नहीं पड़ता था। आख़िर इस उदासीनता की वजह क्या है, इस बारे में फिर कभी चर्चा करेंगे। इस साल दोबारा से बहस हुई कि हम जलसा अगर करें तो क्यों करें? इसके फ़ायदे और नुक़सान क्या हैं? यह आयोजित करने से क्या बच्चे कुछ सीख पाते हैं? इसी तरह के और बहुत से सवालों को लेकर विचार-विमर्श हुआ। बातचीत से महसूस हुआ कि यह आयोजित करने के इदारे के लिए कई फ़ायदे हैं। ख़ासतौर से स्कूल से जुड़े लोगों को एक मिली-जुली पहचान का अहसास कराने में यह अहम रोल अदा करता है। कुछ लोग जो शुरू में ज़ोर-शोर से मुख़ालफ़त कर रहे थे उन्होंने दबी ज़बान में अपनी मजबूरी बयान की। उनमें से तीन टीचर्स को अपना ज़ाति काम था, जिसकी इजाज़त उन्हें इन्तज़ामिया ने दे दी। हमारा जलसा हुआ और उसकी तैयारी में साथ देने के लिए मैं लगातार बीस दिन स्कूल गई।

अगर हम ऊपर दी गई प्रक्रिया को देखें तो पाएंगे कि कोशिश की गई कि टीचर्स पर फ़ैसला थोपा न जाए। चिंतन और चेतना के ज़रिए फ़ैसले पर पहुंचा गया। ज़ाति फ़ायदा नहीं बल्कि इदारे और बच्चों के परिप्रेक्ष्य में सोचा गया। इसके बावजूद भी मैं यह कहूंगी कि फ़ैसले में सत्ता का दख़ल था जिसकी वजह से लोग राज़ी हुए। लेकिन यह फ़ैसला आप ही पर छोड़ती हूं कि सत्ता का इस्तेमाल सही किया गया या ग़लत। क्योंकि इदारों में नए दस्तूर शुरू करना कहीं आसान है, बमुक़ाबले उन्हें जारी रखने के, तो क्या इस तरह का चिंतन और सहारा नए ढांचे स्थापित कर सकता है? इस बातचीत के ज़रिए मैंने फ़ैसले तक पहुंचने के लिए जायज़ दलीलों को स्थान दिया, औरों की बात को नकारा नहीं बल्कि कोशिश की कि वह अपनी बात बेझिझक कह सकें। जिस फ़ैसले पर पहुंचे उसका तर्क समझ पाएं और एक मिलाजुला तसव्वुर बना पाएं। और हां, फ़ैसले बच्चों के हक़ में हों। फिर भी, मेरे लिए अपने-आपको लोकतांत्रिक होने का तमग़ा पहनाना कुछ आसान नहीं है!

अगले लेख में यह दिखाने की कोशिश होगी की आपसी रिश्तों का असर स्कूली माहौल और बच्चों की तालीम पर कैसा पड़ता है। यह माहौल किस तरह के इशारे और छुपे ही सही लेकिन ताक़तवर संदेश बच्चों को देता है, जो समाज में उन्हें लोगों के मुक़ाबले में उनकी अहमियत या मूल्य बताते हैं। साथ ही यह समझने की कोशिश होगी कि बच्चों के और उनके परिवारों के बारे में टीचर्स के ज़ेहन में किस तरह का तसव्वुर है। इस सवाल से जूझा जाएगा कि किस तरह यह विचार बच्चों से उम्मीदें रखने और उनके लिए काम और मेहनत करने को प्रभावित करते हैं। बच्चों के स्कूली सफ़र और संघर्ष की कुछ झलकियां होंगी। ◆